जीवसमास : एक अध्ययन

जीवसमास रचयिता एवं रचनाकाल

जीवसमास नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह जीवों की विभिन्न अवस्थाओं की विवेचना करने वाला ग्रन्थ है। यह किसी पूर्वधर आचार्य द्वारा रचित एवं जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके वास्तविक रचयिता कौन हैं, यह तथ्य मूलग्रन्थ के आधार पर कहीं भी स्पष्ट नहीं होता है। इसकी अन्तिम प्रशस्ति में इसे पूर्व साहित्य के आधार पर रचित माना गया है। इससे इतना तो अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि इसके रचयिता पूर्वों के ज्ञाता थे। यह ग्रन्थ किसने और कब बनाया इसका ज्ञान हरिभद्र (८वीं शती) जैसे प्राचीन आचार्यों को भी नहीं था। नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र में उस काल तक रचित आगम ग्रन्थों के उल्लेख मिलते हैं, किन्तु उनमें कहीं भी जीवसमास का उल्लेख नहीं है। इससे यही सिद्ध होता है कि जीवसमास की रचना नन्दीसूत्र के पश्चात् ही हुई होगी। नन्दीसूत्र की रचना लगभग विक्रम की पांचवीं शती में हुई, अतः जीवसमास पांचवीं शती के पश्चात् निर्मित हुआ। सातवीं शताब्दी में या उसके पश्चात् रचित ग्रन्थों में जीवसमास का उल्लेख पाया जाता है, अतः जीवसमास की रचना विक्रम संवत् की पांचवीं शती के पश्चात् और सातवीं शती के पूर्व अर्थात् लगभग छठी शताब्दी में हुई होगी।

प्रस्तुत कृति लगभग छठी शती की रचना है, इसके कुछ अन्य आधार भी है, सर्वप्रथम इसमें नयों की चर्चा के प्रसंग में सात मूल नयों की प्रचलित अवधारणा के स्थान पर नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द— ये पाँच ही मूलनय माने गये हैं, यह अवधारणा हमें तत्त्वार्थसूत्र में भी मिलती है। जीवसमास में समभिरूढ़ और एवंभूत— इन दो नयों का कोई उल्लेख नहीं है, जबकि उमास्वाति समभिरूढ़ एवं एवंभूत— इन दो नयों का शब्द नय के दो भेदों के रूप में उल्लेख करते हैं। सिद्धसेनदिवाकर ने नैगम को तो स्वीकार नहीं किया, किन्तु समभिरूढ़ एवं एवंभूत को मूलनय मानकर छह नय माने हैं। ऐसा लगता है कि सप्त नयों की स्पष्ट अवधारणा लगभग छठी शती के उत्तरार्द्ध में विकसित हुई है, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका (छठी शती) के मूलपाठ में सर्वप्रथम भाष्यमान पाठ के पाँच मूल नयों के स्थान पर सात मूलनयों का निर्देश है। जीवसमास में पाँच नयों का यह उल्लेख इतना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो अवश्य सिद्ध करता है कि प्रस्तुत कृति सप्तनयों की अवधारणा के विकसित एवं सुस्थापित होने के पूर्व अर्थात् छठीं शती के पूर्वार्द्ध की रचना होनी चाहिए। यद्यपि गुणस्थानों की अवधारणा की उपस्थिति के आधार पर यह कृति तत्त्वार्थसूत्र से परवर्ती है फिर भी नयों के सन्दर्भ में यह उस धारा का प्रतिनिधित्व करती है, जो प्राचीन रही है। ज्ञातव्य है कि षट्खण्डागम मूल में भी सर्वत्र इन्हीं पाँचों नयों का निर्देश है (५/६/३, पृ० ७१८, ४/१/४८-५०, ४/१/५६-५९, ४/२/२-४, ४/३/१-४)।

जीवसमास की प्राचीनता का दूसरा आधार उसका ज्ञान सिद्धान्त है। इसमें ज्ञान के पाँच प्रकारों की चर्चा के प्रसंग में तत्त्वार्थसूत्र के समान ही मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्षज्ञान ही माना गया है। यह अवधारणा भी तत्त्वार्थसूत्र के समान ही है, किन्तु मतिज्ञान के अन्तर्गत इन्द्रियप्रत्यक्ष को स्वीकार कर लेने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान चर्चा के प्रसंग में जीवसमास की स्थिति तत्त्वार्थसूत्र से परवर्ती है और नन्दीसूत्र के समान ही है— नन्दीसूत्र का काल लगभग पाँचवीं शती हैं। नन्दीसूत्र में ही सर्वप्रथम मतिज्ञान के एकभेद के रूप में इन्द्रियप्रत्यक्ष को व्यावहारिक प्रत्यक्ष के रूप में मान्य किया गया है।

पुन: प्रमाणों की चर्चा के प्रसंग में भी इसमें — प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान इन चार प्रमाणों की ही चर्चा हुई है। जैन दर्शन में चार प्रमाणों की यह चर्चा भी आगमिक युग (५वीं शती) की देन है और न्यायदर्शन से प्रभावित है, समवायांग और नन्दीसूत्र में भी इन्हीं चार प्रमाणों की चर्चा मिलती है। इसमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क इन तीन प्रमाणों की चर्चा का, जो तार्किक युग की देन है, पूर्ण अभाव है। जैनदर्शन में इन तीनों को प्रमाणों के रूप में स्वीकृति सर्वप्रथम अकलंक के काल (लगभग ८वीं शती) से प्रारम्भ होती है। अत: इससे भी इतना तो सुनिश्चित होता है कि जीवसमास ५वीं शती के पश्चात् और ८वीं शती के पूर्व अर्थात् छठी-सातवीं शती में कभी निर्मित हुआ होगा। किन्तु सातवीं शती से जीवसमास के निर्देश उपलब्ध होते हैं, अत: यह छठी शती में निर्मित हुआ होगा, इस तथ्य को मान्य किया जा सकता है।

तीसरे जीवसमास में चौदह गुणस्थानों का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है इससे भी यही स्पष्ट होता है कि यह ग्रन्थ ५वीं शताब्दी के बाद की ही रचना है। तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञभाष्य (लगभग तीसरी-चौथी शती) में गुणस्थान सिद्धान्त का कोई उल्लेख नहीं है। अत: इतना तो निश्चित है कि यह ग्रन्थ तभी अस्तित्व में आया, जब चौदह गुणस्थानों की अवधारणा अस्तित्व में आ चुकी थी। चौदह गुणस्थानों का उल्लेख आगम साहित्य में सर्वप्रथम समवायांग और आवश्यकनिर्युक्ति की दो प्रक्षिप्त गाथाओं में पाया जाता है। किन्तु उनमें ये गाथाएँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्भवत: वल्लभीवाचना के समय या उसके भी पश्चात् कभी संग्रहणीसूत्र से प्रक्षिप्त की गई होंगी, क्योंकि आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में आचार्य हरिभद्र ने इन दोनों गाथाओं को निर्युक्ति की गाथा न मानकर संग्रहणीसूत्र की गाथा कहा है। आज संग्रहणीसूत्र की अनेक गाथाएँ आगमों एवं निर्युक्तियों में उपलब्ध होती हैं। यह निश्चित है कि गुणस्थान की अवधारणा लगभग पाँचवीं शती के उत्तरार्द्ध और छठी शती के पूर्वार्द्ध में कभी अस्तित्व में आयी है। अत: गुणस्थानों के आधार पर जीव की चौदह मार्गणाओं और आठ अनुयोगद्वारों की चर्चा करने वाला यह ग्रन्थ उसके पश्चात् ही लगभग छठी शती के उत्तरार्द्ध में निर्मित हुआ होगा।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भ में चौदह गुणस्थानों को जीवसमास के नाम से अभिहित किया गया है। चौदह गुणस्थानों को समवायांगसूत्र में मात्र जीवस्थान के नाम से तथा षट्खण्डागम के प्रारम्भ में जीवसमास के नाम से और बाद में गुणस्थान के नाम से अभिहित किया गया है। षट्खण्डागम के समान ही प्रस्तुत कृति में भी गुणस्थान को पहले जीवसमास और बाद में गुणस्थान के नाम से अभिहित किया गया है। पुन: प्रस्तुत कृति की षट्खण्डागम के सत्पदप्ररूपना नामक प्रथम खण्ड से भी अनेक अर्थों में समानता है जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। इससे ऐसा लगता है कि यह कृति षट्खण्डागम की समकालिक या उससे किञ्चित पूर्ववर्ती या परवर्ती ही रही होगी। फिर भी इतना निश्चित है कि प्रस्तुत कृति उसी प्रारम्भिक काल की रचना है जब गुणस्थानों की अवधारणा जीवसमास के नाम से प्रारम्भ होकर गुणस्थान सिद्धान्त के रूप में अपना स्वरूप ले रही थी। इसमें गुणस्थानों और मार्गणाओं के सह-सम्बन्ध की चर्चा से यह भी फलित होता है कि यह लगभग छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध की रचना है, क्योंकि छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से न केवल जीवसमास या जीवस्थान, गुणस्थान के नाम से अभिहित होने लगे थे, अपितु जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान के एक-दूसरे से पारस्परिक सह-सम्बन्ध भी निश्चित हो चुके थे। जीवसमास नामक प्रस्तुत कृति में जीवस्थानों, मार्गणास्थानों और गुणस्थानों के पारस्परिक सम्बन्ध की जो स्पष्ट चर्चा है, उससे यही फलित होता है कि यह कृति लगभग छठी शती के उत्तरार्द्ध की रचना होकर षट्खण्डागम के समकालिक होनी चाहिए।

इस प्रसंग में गुणस्थान सिद्धान्त के उद्भव और विकास की यात्रा को समझ लेना आवश्यक है, क्योंकि जीवसमास नामक इस कृति में 'जीवसमास' के नाम से गुणस्थानों की ही चर्चा की गई है और इन गुणस्थानों के सन्दर्भ में मार्गणाओं आदि का सह-सम्बन्ध स्पष्ट करना ही इसका प्रतिपाद्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणस्थान सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

व्यक्ति की आध्यात्मिक शुद्धि के विभिन्न स्तरों का निर्धारण करने के लिए जैन दर्शन में गुणस्थान की अवधारणा को प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि गुणस्थान की अवधारणा जैन धर्म की एक प्रमुख अवधारणा है तथापि प्राचीन स्तर के जैन-आगमों यथा— आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित, दशवैकालिक, भगवती आदि में इस सिद्धान्त का कोई निर्देश उपलब्ध नहीं है। सर्वप्रथम समवायांग में जीवस्थान के नाम से इन गुणस्थानों का उल्लेख हुआ है। समवायांग में यद्यपि चौदह गुणस्थानों के नामों का निर्देश हुआ है, किन्तु उन्हें गुणस्थान न कहकर जीवस्थान (जीवठाण) कहा गया है। (समवायांग, सम्पादक— मधुकरमुनि, १४/९५)

समवायांग के पश्चात् श्वेताम्बर परम्परा में गुणस्थानों के इन चौदह नामों का निर्देश आवश्यकनिर्युक्ति में उपलब्ध है, किन्तु उसमें भी उन्हें गुणस्थान न कहकर जीवस्थान ही कहा गया है। ज्ञातव्य है कि निर्युक्ति में भी ये गाथाएँ प्रक्षिप्त हैं। आचार्य हरिभद्र (आठवीं शती) ने अपनी आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में इन्हें संग्रहणीसूत्र से उद्धृत बताया है।

आगमों के समान प्रकीर्णकों में भी गुणस्थान की अवधारणा का अभाव है। श्वेताम्बर परम्परा में इन चौदह अवस्थाओं के लिए "गुणस्थान" शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हमें आवश्यकचूर्णि (७वीं शती) में मिलता है उसमें लगभग तीन पृष्ठों में इसका विवरण दिया गया हैं।

जहाँ तक अचेल परम्परा का प्रश्न है उसमें कसायपाहुड को छोड़कर षट्खण्डागम, मूलाचार और भगवती आराधना जैसे तत्त्वज्ञान एवं आचारप्रधान ग्रन्थों में तथा तत्त्वार्थसूत्र की पूज्यपाद देवनन्दी की सर्वार्थसिद्धि टीका, भट्ट अकलंक के राजवार्त्तिक, विद्यानन्दी के श्लोकवार्त्तिक आदि दिगम्बर आचार्यों के टीका ग्रन्थों में इस सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन हुआ है। ज्ञातव्य है कि मात्र षट्खण्डागम में इन्हें जीवसमास कहा गया है। शेष सभी ग्रन्थों में इन्हें गुणस्थान के नाम से ही अभिहित किया गया है।

हमारे लिए आश्चर्य का विषय तो यह है कि आचार्य उमास्वाति (लगभग तीसरी-चौथी शती) ने जहाँ अपने तत्त्वार्थसूत्र में जैन धर्म एवं दर्शन के लगभग सभी पक्षों पर प्रकाश डाला है। वहाँ उन्होंने चौदह गुणस्थानों का स्पष्ट रूप से कहीं भी निर्देश नहीं किया है। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है कि क्या तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक जैन धर्म में गुणस्थान की अवधारणा का विकास नहीं हुआ था? और यदि उसका विकास हो चुका था

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

एक साथ चौदह गुणस्थानों का उल्लेख नहीं है, किन्तु ध्यान के प्रसंग में ७वें से १४वें गुणस्थान तक की, मूलाचार की अपेक्षा विस्तृत विवेचना हुई है। उसके पश्चात् देवनन्दी की सर्वार्थसिद्धि टीका में गुणस्थान (गुणट्ठाण) का विस्तृत वर्णन मिलता है। पूज्यपाद देवनन्दी ने तो सर्वार्थसिद्धि टीका में सत्प्ररूपणा आदि द्वारों की चर्चा में मार्गणाओं की चर्चा करते हुए प्रत्येक मार्गणा के सन्दर्भ में गुणस्थानों का विस्तृत विवरण दिया है, यह विवरण आंशिक रूप से जीवसमास एवं षट्खण्डागम से समानता रखता है।

आचार्य कुन्दकुन्द की ही यह विशेषता है कि उन्होंने सर्वप्रथम नियमसार, समयसार आदि में मग्गणाठाण, गुणठाण और जीवठाण का उनके भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया है। इस प्रकार जीवठाण या जीवसमास शब्द जो समवायांग एवं षट्खण्डागम के काल तक गुणस्थान के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त होते थे, वे अब जीव की विभिन्न योनियों के सन्दर्भ में प्रयुक्त होने लगे। कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में जीवस्थान का तात्पर्य जीवों के जन्म ग्रहण करने की विविध योनियों से है। इसका एक फलितार्थ यह है कि भगवती आराधना, मूलाचार तथा कुन्दकुन्द के काल तक जीवस्थान और गुणस्थान दोनों की अलग-अलग स्पष्ट धारणाएँ बन चुकी थी और इन दोनों के विवेच्य विषय भी अलग हो गये थे। जीवस्थान या जीवसमास का सम्बन्ध जीवयोनियों/जीवजातियों से और गुणस्थान का सम्बन्ध आत्मविशुद्धि/कर्मविशुद्धि से माना जाने लगा था। ज्ञातव्य है कि आचारांग आदि प्राचीन ग्रन्थों में जहाँ गुण शब्द का प्रयोग बन्धक तत्त्व के रूप में हो रहा था, वहाँ गुण शब्द का प्रयोग गुणस्थान में आत्मविशुद्धि का वाचक बन गया। इस प्रकार यदि गुणस्थान सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकासक्रम की दृष्टि से विचार करें तो मूलाचार, भगवती आराधना, सर्वार्थसिद्धि टीका एवं कुन्दकुन्द के समयसार, नियमसार आदि सभी ग्रन्थ लगभग छठी शती उत्तरार्द्ध या उससे भी परवर्ती ही सिद्ध होते हैं। निश्चय ही प्रस्तुत जीवसमास और षट्खण्डागम उनसे कुछ पूर्ववर्ती है।

इन समस्त चर्चा से ऐसा लगता है कि लगभग पाँचवीं शताब्दी के अन्त में जब सर्वप्रथम गुणस्थान की अवधारणा सुव्यवस्थित हुई, तब उसे जीवस्थान या जीवसमास के नाम से अभिहित किया जाता था— गुणस्थान शब्द का प्रयोग अभी प्रचलित नहीं हुआ था। लगभग छठी शती से इसके लिए गुणस्थान शब्द रूढ़ हुआ और छठी शती के उत्तरार्द्ध में जीवस्थानों, मार्गणास्थानों और गुणस्थानों के सह-सम्बन्ध निश्चित हुए। गुणस्थान के इस ऐतिहासिक विकासक्रम को समझने के लिए नीचे हम दो सारणियाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो उमास्वाति ने अपने मूल ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में या उसकी स्वोपज्ञ टीका तत्त्वार्थभाष्य में उसका उल्लेख क्यों नहीं किया? जबकि उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के नवें अध्याय में आध्यात्मिक विशुद्धि (कर्म-निर्जरा) की दस अवस्थाओं को सूचित करते हुए एक लम्बा सूत्र बनाया है। यदि उनके सामने गुणस्थान की अवधारणा होती तो निश्चय ही वे उस सूत्र के स्थान पर उसका प्रतिपादन करते, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में जिन दस अवस्थाओं का निर्देश है उनमें और गुणस्थानों के नामकरण एवं क्रम में बहुत कुछ समानता है। मेरी दृष्टि में तो इन्हीं दस अवस्थाओं के आधार पर ही गुणस्थान सिद्धान्त का विकास हुआ है। इस सूत्र में गुणस्थान की अवधारणा से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्द— जैसे दर्शन-मोह-उपशमक, दर्शन-मोह-क्षपक (चारित्र-मोह) उपशमक, (चारित्र-मोह) क्षपक, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, केवली (जिन) आदि उपलब्ध होते हैं। इससे ऐसा लगता है कि तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञभाष्य के रचनाकाल तक जैन परम्परा में गुणस्थान की अवधारणा का विकास नहीं हो पाया था, यद्यपि इस अवधारणा के मूल बीज उपस्थित थे। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि समवायांग और षट्खण्डागम के प्रारम्भ में १४ गुणस्थानों के नामों का स्पष्ट निर्देश होकर भी उन्हें गुणस्थान नाम से अभिहित नहीं किया गया है। जहाँ समवायांग उन्हें जीवस्थान कहता है वहाँ प्रस्तुत जीवसमास एवं षट्खण्डागम में उन्हें जीवसमास कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवसमास और षट्खण्डागम— ये दोनों ग्रन्थ प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर आगमों, कसायपाहुडसुत्त, तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य से परवर्ती है और इन अवस्थाओं के लिए गुणस्थान शब्द का स्पष्ट उल्लेख करने वाली श्वेताम्बर-दिगम्बर रचनाओं से पूर्ववर्ती हैं। साथ ही ये दोनों ग्रन्थ समकालीन भी हैं, क्योंकि हम देखते हैं कि छठी शताब्दी उत्तरार्द्ध और उसके पश्चात् के श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रन्थों में विशेष रूप से कर्म-सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थों तथा तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में इन अवस्थाओं के लिए गुणस्थान शब्द का प्रयोग स्पष्टतया किया जाने लगा था।

इससे यह भी फलित होता है कि जैन परम्परा में लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी तक गुणस्थान की अवधारणा अनुपस्थित थी। लगभग पाँचवीं शताब्दी में यह सिद्धान्त अस्तित्व में आया, किन्तु तब इसे गुणस्थान न कहकर जीवस्थान या जीवसमास कहा गया। लगभग छठी शताब्दी से इसके लिए गुणस्थान शब्द रूढ़ हो गया।

जिस प्रकार जीवसमास की प्रथम गाथा में गुणस्थान के लिए 'गुण' का प्रयोग हुआ है, उसी प्रकार मूलाचार में भी इनके लिए 'गुण' शब्द का प्रयोग हुआ है। उसमें चौदह गुणस्थानों का उल्लेख भी है। भगवती आराधना में यद्यपि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणस्थान सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

सारिणी क्रमांक - १

तत्त्वार्थ एवं तत्त्वार्थ-भाष्य	कसायपाहुडसुत्त	समवायांग / षट्-खण्डागम / जीव-समास	श्वेताम्बर-दिगम्बर तत्त्वार्थ की टीकाएँ एवं आराधना, मूलाचार समयसार, नियमसार आदि।
१	२	३	४
३री-४थी शती	४थी शती	५वीं-६ठी शती	६ठी शती या उसके पश्चात्
गुणस्थान, जीव-समास, जीवस्थान, मार्गणा आदि शब्दों का पूर्ण अभाव।	गुणस्थान, जीवस्थान, जीवसमास आदि शब्दों का अभाव, किन्तु मार्गणा शब्द पाया जाता है।	समवायांग में गुणस्थान शब्द का अभाव किन्तु जीवठाण का उल्लेख है जबकि जीवसमास एवं षट्-खण्डागम में प्रारम्भ में जीवसमास और बाद में गुणस्थान के नाम से १४ अवस्थाओं का चित्रण।	गुणस्थान शब्द की स्पष्ट उपस्थिति।
कर्मविशुद्धि या आध्यात्मिक विकास की दस अवस्थाओं का चित्रण, मिथ्यात्व का अन्तर्भाव करने पर ११ अवस्थाओं का उल्लेख।	कर्मविशुद्धि या आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से मिथ्यादृष्टि की गणना करने पर प्रकार भेद से कुल १३ अवस्थाओं का उल्लेख।	१४ अवस्थाओं का उल्लेख है।	१४ अवस्थाओं का उल्लेख है।
सास्वादन, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि और अयोगी केवली दशा का पूर्ण अभाव।	सास्वादन (सासादन) और अयोगी केवली अवस्था का पूर्ण अभाव, किन्तु सम्यक्मिथ्यादृष्टि की उपस्थिति।	सास्वादन, सम्यक् मिथ्यादृष्टि (मिश्र-दृष्टि) और अयोगी केवली आदि का उल्लेख है।	उल्लेख है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अप्रमत्तसंयत, अपूर्व करण (निवृत्तिबादर) अनिवृत्तिकरण (अ-निवृत्तिबादर) जैसे नामों का अभाव।	अप्रमत्तसंयत, अपूर्व-करण (निवृत्तिबादर) अनिवृत्तिकरण (अ-निवृत्तिबादर) जैसे नामों का अभाव है।	उल्लेख है	उल्लेख है
उपशम और क्षय का विचार है, किन्तु ८वें गुणस्थान से उपशम और क्षायिक श्रेणी से अलग-अलग आरोहण होता है। ऐसा विचार नहीं है।	उपशम और क्षपक का विचार है, किन्तु ८वें गुणस्थान से उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी से अलग अलग आरोहण होता हैं। ऐसा विचार नहीं है।	अलग-अलग श्रेणी-विचार उपस्थित।	अलग-अलग श्रेणी-विचार उपस्थित।
पतन की अवस्था का कोई चित्रण नहीं है।	पतन की अवस्था का कोई चित्रण नहीं है।	पतन आदि का मूल पाठ में चित्रण नहीं है।	इन व्याख्या ग्रन्थों में पतन आदि का चित्रण हैं।
जीवस्थान, मार्गणा-स्थान और गुणस्थान के सह-सम्बन्ध की चर्चा का अभाव है।	जीवस्थान मार्गणा-स्थान और गुणस्थान के सह-सम्बन्धों की कोई चर्चा नहीं है।	समवायांग मूलपाठ में जीवस्थान और गुणस्थान दोनों को जीवस्थान ही कहा गया है। इसमें इनके सह-सम्बन्ध की कोई चर्चा नहीं है, किन्तु जीवसमास एवं षट्-खण्डागम मूल में इनके सह-सम्बन्धों की चर्चा है।	सहसम्बन्ध की चर्चा है।

सारिणी संख्या : २

तत्त्वार्थसूत्र (तीसरी-चौथी शती)	कसायपाहुड (४थी शती उत्तरार्ध)	समवायांग/ षट्खण्डागम (लगभग ५वी शती)	तत्त्वार्थ की टीकाएँ (लगभग छठीं शती)
मिथ्यात्त्व (इस सन्दर्भ में इसे परिगणित नहीं किया है)	मिच्छादिट्ठि (मिथ्यादृष्टि)	मिच्छादिट्ठि (मिथ्यादृष्टि)	मिथ्यादृष्टि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- -	- -	सस्वादन सम्यक्दृष्टि (सासायण-सम्मदिट्ठी)	सास्वादन
- -	सम्मा-मिच्छाइट्ठो (मिस्सगं)	सम्मा-मिच्छादिट्ठी (सम्यक्मिथ्यादृष्टि)	सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि)
१. सम्यग्दृष्टि	सम्माइट्ठी (सम्यक्-दृष्टि) अविरदीए	अविरय सम्मादिट्ठी	सम्यग्दृष्टि
२. श्रावक	विरदाविरदे (विरत-अविरत) देसविरयी (सागार)संजमासंजम	विरयाविरए (विरत-अविरत)	देशविरत
३. विरत	विरद (संजम)	पमत्तसंजए	प्रमत्तसंयत
४. अनन्तवियोजक	दंसणमोह उवसागमे (दर्शनमोह उपशामक)	अपमत्तसंजए	अप्रमत्तसंयत
५. दर्शनमोह-क्षपक	दंसणमोह खवगे (दर्शनमोह-क्षपक)	निअट्टिबायरे	अपूर्वकरण
६. (चारित्रमोह) उपशमक	चरितमोहस्स उपसामगे (उवसामणा)	अनिअट्टिबायरे	अनिवृत्तिकरण
- -	सुहुमरागो	सुहुम-संपराए	सूक्ष्म-सम्पाराय
७. उपशान्त चारित्रमोह	उवसंत कसाय खवगे	उवसंत मोहे	उपशान्त-मोह
८. चारित्रमोह क्षपक	- -	- -	- -
९. क्षीणमोह	खीणमोह (छदुमत्थो-वेदगो)	खीणमोहे	क्षीणमोह
१०. जिन	जिण केवली सव्वण्हू सव्वदरिसी (ज्ञातव्य है कि चूर्णि में 'सजोगिजिणो' शब्द है, मूल में नहीं है)	सजोगी केवली	सयोगी केवली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	चूर्णि में योगनिरोध का उल्लेख है, किन्तु मूल में नहीं हैं	अयोगी केवली	अयोगी केवली

ग्रन्थ की भाषा एवं शैली

जहाँ तक जीवसमास की भाषा का प्रश्न है, वह स्पष्टतया महाराष्ट्री प्राकृत है। इससे इसके सम्बन्ध में दो बातें निश्चित होती हैं— एक तो यह कि इसकी रचना सौराष्ट्र और राजस्थान में ही कहीं हुई होगी, क्योंकि यदि इसकी रचना मगध या शौरसेन में हुई होती तो इसकी भाषा में आर्ष अर्द्धमागधी अथवा शौरसेनी प्राकृत होती। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि इसकी रचना संघभेद के पश्चात् श्वेताम्बर परम्परा में हुई है क्योंकि इस युग के दिगम्बर ग्रन्थ प्रायः शौरसेनी या महाराष्ट्री प्रभावित शौरसेनी में पाये जाते हैं। यद्यपि प्रस्तुत कृति महाराष्ट्री प्राकृत की रचना है, फिर भी इसमें कहीं-कहीं आर्ष अर्धमागधी के प्रयोग देखे जाते हैं।

जहाँ तक जीवसमास की शैली का प्रश्न है, निश्चय ही यह षट्खण्डागम के समरूप प्रतीत होती है, क्योंकि दोनों ही ग्रन्थ चौदह मार्गणाओं एवं छह और आठ अनुयोगद्वारों के आधारों पर चौदह गुणस्थानों की चर्चा करते हैं। यद्यपि षट्खण्डागम की जीवसमास से अनेक अर्थों में भिन्नता है, जहाँ षट्खण्डागम सामान्यतया शौरसेनी में लिख गया है वहाँ जीवसमास सामान्यतया महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा गया है। पुनः जहाँ षट्खण्डागम गद्य में है वहाँ जीवसमास पद्य में है। जहाँ जीवसमास संक्षिप्त है, वहाँ षट्खण्डागम व्याख्यात्मक है। फिर भी विषय प्रस्तुतीकरण की शैली एवं विषयवस्तु को लेकर दोनों में पर्याप्त समरूपता भी है। षट्खण्डागम के प्रारम्भिक खण्ड जीवस्थान के समान इसका भी प्रारम्भ सत्पदप्ररूपणा से होता है। इसमें भी गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, दर्शन, संयम लेश्या, भव, सम्यक्, संज्ञा और आहार— इन चौदह मार्गणाओं के सन्दर्भ में चौदह गुणस्थानों की चर्चा है। षट्खण्डागम के प्रथम जीवस्थान के समान इसमें भी वही नाम वाले आठ अनुयोगद्वार है— १. सत्पदप्ररूपणाद्वार, २. परिमाणद्वार, ३. क्षेत्रद्वार, ४. स्पर्शनाद्वार, ५. कालद्वार, ६. अन्तर्द्वार, ७. भावद्वार, ८. अल्पबहुत्वद्वार।

इस प्रकार विषय प्रतिपादन में दोनों में अद्भुत शैलीगत समरूपता है। फिर भी षट्खण्डागम की अपेक्षा जीवसमास संक्षिप्त है। ऐसा लगता है कि षट्खण्डागम का प्रथम खण्ड जीवसमास की ही व्याख्या हो।

जीवसमास के आधारभूत ग्रन्थ

जीवसमास ग्रन्थ वस्तुतः दृष्टिवाद से उद्धृत किया गया है, क्योंकि उसकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तिम गाथा में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि जिनोपदिष्ट बहुभंग वाले दृष्टिवाद के दृष्टि-स्थान से जीवसमास नामक यह ग्रन्थ उद्धृत किया गया है। यद्यपि जीवसमास की विषयवस्तु से सम्बन्धित अनेक विषयों की चर्चा भगवती, प्रज्ञापना, जीवाजीवाभिगम, अनुयोगद्वार आदि श्वेताम्बर मान्य आगमों में मिलती है, किन्तु यह कहना कठिन है कि इस ग्रन्थ की रचना इन ग्रन्थों के आधार पर हुई है, क्योंकि अनेक प्रश्नों पर प्रस्तुत ग्रन्थ का मत भगवती, प्रज्ञापना आदि से भिन्न प्रतीत होता है। इसमें वर्णित अनेक विषय जैसे मार्गणाओं और गुणस्थानों के सह-सम्बन्ध आदि ऐसे हैं, जिनका श्वेताम्बर मान्य इन आगमों में कोई उल्लेख ही नहीं है, किन्तु आगमों की वलभी वाचना से परवर्ती चन्द्रर्षि महत्तर के प्राचीन कर्मग्रन्थों (छठी शती) में ये विषय चर्चित है। इससे यही सिद्ध होता है कि ग्रन्थकार ने जो दृष्टिवाद से इसको अवतरित करने की बात कही वह आंशिक सत्य अवश्य है, क्योंकि कर्मों के बन्ध, उदय, क्षयोपशम आदि का विषय कम्मपयडी आदि पूर्व साहित्य के अंगीभूत ग्रन्थों में ही अधिक सूक्ष्मता से विवेचित था। जैन परम्परा में अंगधरों के समान ही पूर्वधरों की एक स्वतन्त्र परम्परा रही है और कर्म-साहित्य विशेष रूप से पूर्व-साहित्य का अंग रहा है। पुनः आगमिक मान्यताओं की अपेक्षा इसके मन्तव्यों का कर्मग्रन्थकारों के अधिक निकट होना भी इस तथ्य की पुष्टि करता है। आगमों, कर्मग्रन्थों और जीवसमास के मन्तव्यों में कहाँ समरूपता है और कहाँ मतभेद है यह सब विस्तार से अन्वेषणीय है।

षट्खण्डागम और जीवसमास

जैसा कि हमने पूर्व में अनेक स्थलों पर संकेत किया कि जीवसमास की सम्पूर्ण विषयवस्तु अपने **वर्णित** विषय और शैली की दृष्टि से षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड जीवस्थान से पूर्णतः समरूपता रखती है। मात्र अन्तर यह है कि जहाँ जीवसमास में यह वर्णन मात्र २८६ गाथाओं में किया गया है वही वर्णन षट्खण्डागम के जीवस्थान में १८६० सूत्रों के द्वारा किया गया। दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर षट्खण्डागम और जीवसमास में यह है कि प्रत्येक अनुयोगद्वार की प्रत्येक प्ररूपणा के आधारभूत तथ्यों की जो विस्तृत चर्चा लगभग १११ गाथाओं में जीवसमास में की गई है, वह षट्खण्डागम के जीवस्थान में तो नहीं है, किन्तु उसकी धवला टीका में अवश्य उपलब्ध होती है।

इस आधार पर यह कल्पना की जा सकती है कि क्या जीवसमासकार ने षट्खण्डागम के आधार पर ही तो इसकी रचना नहीं की है? किन्तु ऐसा नहीं है। इस सम्बन्ध में हम अपनी ओर से कुछ न कहकर षट्खण्डागम के विशिष्ट विद्वान् उसके सम्पादक और भूमिका लेखक पं० हीरालाल जी शास्त्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का मन्तव्य, उनकी षट्खण्डागम की भूमिका से उद्धृत करके अविकल रूप से दे रहे हैं। उनके निबन्ध का निष्कर्ष यही है कि— "किसी पूर्ववेत्ता आचार्य ने दिन पर दिन क्षीण होती हुई लोगों की बुद्धि और धारणा शक्ति को देखकर ही प्रवचन-वात्सल्य से प्रेरित होकर इसे गाथा रूप में निबद्ध कर दिया है और **वह आचार्य परम्परा से प्रवहमान होता हुआ धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ है।** उसमें जो कथन स्पष्ट था, उसकी व्याख्या में अधिक बल न देकर जो अप्ररूपित मार्गणाओं का गूढ़ अर्थ था, उसका उन्होंने भूतबलि और पुष्पदन्त को विस्तार से विवेचन किया और उन्होंने भी उसी गूढ़ रहस्य को अपनी रचना में स्पष्ट करके कहना या लिखना उचित समझा।"

मात्र इतना ही नहीं दिगम्बर परम्परा के बहुश्रुत विद्वान् आदरणीय पण्डित जी ने अपनी भूमिका के उपसंहार में इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि जीवसमास षट्खण्डागम के जीवट्ठाण प्ररूपणाओं का आधार रहा है। वे लिखते है कि—

इस प्रकार जीवसमास की रचना देखते हुए उसकी महत्ता हृदय पर स्वतः ही अंकित हो जाती है और इस बात में कोई सन्देह नहीं रहता कि उसके निर्माता पूर्ववेत्ता थे, या नहीं? क्योंकि उन्होंने उपर्युक्त उपसंहार गाथा में स्वयं ही 'बहुभंगदिट्ठियाए' पद देकर अपने पूर्ववेत्ता होने का संकेत कर दिया है।

समग्र जीवसमास का सिंहावलोकन करने पर पाठकगण दो बातों के निष्कर्ष पर पहुँचेंगे— एक तो यह कि विषय वर्णन की सूक्ष्मता और महत्ता की दृष्टि से यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और दूसरी यह कि यह षट्खण्डागम के जीवट्ठाण-प्ररूपणाओं का आधार रहा है।"

मात्र इतना ही नहीं वे इस तथ्य को भी स्वीकार करते हैं कि श्वेताम्बर संस्थाओं से प्रकाशित 'पूर्वभृत्सूरिसूत्रित' जीवसमास प्राचीन है और षट्खण्डागम के जीवस्थान और दिगम्बर प्राकृत पञ्चसंग्रह के जीवसमास का किसी रूप में उपजीव्य भी रहा है। मात्र आदरणीय पण्डित जी ने षट्खण्डागम की भूमिका के अन्त में यह अवश्य माना है कि जीवसमास में एक ही बात खटकने जैसी है, वह यह कि उसमें सोलह स्वर्गों के स्थान पर १२ स्वर्गों के ही नाम हैं। वे लिखते हैं— "यद्यपि जीवसमास की एक बात अवश्य खटकने जैसी है कि उसमें १६ स्वर्गों के स्थान पर १२ स्वर्गों के ही नाम हैं और नव अनुदिशों का भी नाम-निर्देश नहीं है, तथापि जैसे तत्त्वार्थसूत्र के 'दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः' इत्यादि सूत्र में १६ के स्थान पर १२ कल्पों का निर्देश होने पर भी इन्द्रों की विवक्षा करके और 'नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु' इत्यादि सूत्र में अनुदिशों के नाम का निर्देश नहीं होने पर भी उसकी 'नवसु' पद से सूचना मान करके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधान कर लिया गया है उसी प्रकार से यहाँ भी समाधान किया जा सकता है।"

यद्यपि आदरणीय पण्डित जी ने दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से यहाँ इस समस्या का समाधान तत्त्वार्थसूत्र के उस सूत्र की, सर्वार्थसिद्धि की व्याख्या के आधार पर करने का किया है। किन्तु यहाँ मेरा दृष्टिकोण कुछ भिन्न है। षट्खण्डागम में ऐसे अनेक तथ्य पाये जाते हैं जो दिगम्बर परम्परा की आज की मूलभूत मान्यताओं से अन्तर रखते हैं। यदि हम यहाँ स्त्री में सातवें गुणस्थान की सम्भावना और स्त्री-मुक्ति के समर्थक उसके प्रथम खण्ड सूत्र ९३ की विवादास्पद व्याख्या को न भी लें, तो भी कुछ प्राचीन मान्यताएँ षट्खण्डागम की ऐसी हैं, जो प्रस्तुत जीवसमास से समरूपता रखती हैं और दिगम्बर परम्परा की वर्तमान मान्यताओं से भिन्नता। आदरणीय पण्डित जी ने यहाँ यह प्रश्न उठाया है कि जीवसमास में १२ स्वर्गों की ही मान्यता है, किन्तु स्वयं षट्खण्डागम में भी १२ स्वर्गों की ही मान्यता है। उसके वर्गणाखण्ड के प्रकृति अनुयोगद्वार की निम्न गाथाएँ १२ स्वर्गों का ही निर्देश करती है—

सक्कीसाणा पठमं दोच्चं तु सणक्कुमार-माहिंदा।
तच्च तु बम्ह-लंतय सुक्क-सहस्सारया चोत्थ।।

—५/५/७०; पृष्ठ सं०- ७०५

आणद-पाणदवासी तह आरण-अच्चुदा य जे देवा।
पस्संति पंचमखिदिं छट्ठिम गेवज्जया देवा।। – ५/५/७१
सव्वं च लोगणालि पस्संति अणुत्तरेसु जे देवा।
सक्खेत्ते य सकम्मे रूवगदमणंतभागं च।।

— ५/५/७२; पृष्ठ सं०- ७०६

मात्र यह ही नहीं, जिस प्रकार जीवसमास में पाँच ही मूल नयों की चर्चा हुई है, उसी प्रकार षट्खण्डागम में भी सर्वत्र उन्हीं पाँच नयों का निर्देश हुआ है। तत्त्वार्थसूत्र की प्राचीन भाष्यमान परम्परा भी पाँच मूल नयों का ही निर्देश करती है, जबकि सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ में सात नयों की चर्चा है। वस्तुतः तत्त्वार्थसूत्र का भाष्यमान पाठ षट्खण्डागम और जीवसमास किसी प्राचीन धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। चाहे हम परम्परागत आधारों पर इन्हें एक-दूसरे के आधार पर बनाया गया न भी मानें तो भी इतना तो निश्चित ही है कि उनका मूल आधार पूर्वसाहित्य की परम्परा रही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्वेताम्बर जीवसमास और दिगम्बर जीवसमास

प्रस्तुत जीवसमास के समान ही दिगम्बर परम्परा में प्राकृत पञ्चसंग्रह के अन्तर्गत जीवसमास पाया जाता है। दोनों के नाम साम्य को देखकर स्वाभाविक रूप से यह जिज्ञासा होती है कि इन दोनों में कितना साम्य और वैषम्य है और कौन किसके आधार पर निर्मित हुआ है। इस सम्बन्ध में भी यदि मैं अपनी ओर से कुछ कहता हूँ तो शायद यह समझा जायेगा कि मुझे कुछ पक्ष व्यामोह है। अत: इस सम्बन्ध में भी अपनी ओर से कुछ न कहकर पुन: दिगम्बर परम्परा के बहुश्रुत विद्वान् पण्डित हीरालाल जी शास्त्री की पञ्चसंग्रह की भूमिका से ही कुछ अंश अविकल रूप से उद्धृत कर रहा हूँ। आदरणीय पण्डित जी लिखते हैं —

"पञ्चसंग्रह के प्रथम प्रकरण का नाम जीवसमास है। इस नाम का एक ग्रन्थ श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था रतलाम की ओर से सन् १९२८ में एक संग्रह के भीतर प्रकाशित हुआ है, जिसकी गाथा संख्या २८६ है। नाम-साम्य होते हुए भी अधिकांश गाथाएँ न विषय-गत समता रखती हैं और न अर्थगत समता ही। गाथा-संख्या की दृष्टि से भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है। फिर भी जितना कुछ साम्य पाया जाता है, उनके आधार पर एक बात सुनिश्चित रूप से कही जा सकती है कि **श्वेताम्बर संस्थाओं से प्रकाशित जीवसमास प्राचीन है।** पञ्चसंग्रहकार ने उसके द्वारा सूचित अनुयोगद्वारों में से १-२ अनुयोगद्वार के आधार पर अपने जीवसमास प्रकरण की रचना की है। इसके पक्ष में कुछ प्रमाण निम्नप्रकार है—

१. श्वेताम्बर संस्थाओं से प्रकाशित जीवसमास को 'पूर्वभृत्सूरिसूत्रित' माना जाता है। इसका यह अर्थ है कि जब जैन परम्परा में पूर्वों का ज्ञान विद्यमान था, उस समय किसी पूर्ववेत्ता आचार्य ने इसका निर्माण किया है। ग्रन्थ-रचना के देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि **यह ग्रन्थ भूतबलि और पुष्पदन्त से भी प्राचीन है और वह षट्खण्डागम के जीवट्ठाण नामक प्रथम खण्ड की आठों प्ररूपणाओं के सूत्र-निर्माण में आधार रहा है, तथा यही ग्रन्थ प्रस्तुत पञ्चसंग्रह के जीवसमास नामक प्रथम प्रकरण का भी आधार रहा है।** इसकी साक्षी में उक्त ग्रन्थ की एक गाथा प्रमाण रूप से उपस्थित की जाती है जो कि श्वेताम्बर जीवसमास में मंगलाचरण के पश्चात् ही पाई जाती है। वह इस प्रकार है—

णिक्खेव-णिरुत्तीहिं य छहिं अट्ठहिं अणुओगदारेहिं।
गइआइमग्गणाहि य जीवसमासाऽणुगंतव्वा ।।२।।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

इसमें बतलाया गया है कि नामादि निक्षेपों के द्वारा; निरुक्ति के द्वारा, निर्देश, स्वामित्व आदि छह और सत्, संख्या आदि आठ अनुयोग-द्वारों से तथा गति आदि चौदह मार्गणा-द्वारों से जीवसमास को जानना चाहिए। इसके पश्चात् उक्त सूचना के अनुसार ही सत्-संख्यादि आठों प्ररूपणाओं आदि का मार्गणास्थानों में वर्णन किया गया है। इस जीवसमास प्रकरण की गाथा-संख्या की स्वल्पता और जीवट्ठाण के आठों प्ररूपणाओं की सूत्र-संख्या की विशालता ही उसके निर्माण में एक दूसरे की आधार-आधेयता को सिद्ध करती है।

जीवसमास की गाथाओं और षट्खण्डागम के जीवस्थानखण्ड को आठों प्ररूपणाओं का वर्णन-क्रम विषय की दृष्टि से कितना समान है, यह पाठक दोनों का अध्ययन कर स्वयं ही अनुभव करें।

प्रस्तुत पञ्चसंग्रह के जीवसमास प्रकरण के अन्त में उपसंहार करते हुए जो १८२ अंक-संख्या वाली गाथा पायी जाती है, उससे भी हमारे उक्त कथन की पुष्टि होती है। वह गाथा इस प्रकार है—

णिक्खेवे एयट्ठे णयप्पमाणे णिरुत्ति-अणिओगे।

मग्गइ वीसं भेए सो जाणइ जीवसब्भावं।।

अर्थात् जो पुरुष निक्षेप, एकार्थ, नय, प्रमाण, निरुक्ति और अनुयोगद्वारों से मार्गणा आदि बीस भेदों में जीव का अन्वेषण करता है, वह जीव के यथार्थ सद्भाव या स्वरूप को जानता है।

पाठक स्वयं ही देखें कि पहली गाथा की बात को ही दूसरी गाथा के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। केवल एक अन्तर दोनों में है। वह यह कि पहली गाथा उक्त प्रकरण के प्रारम्भ में दी है, जबकि दूसरी गाथा उस प्रकरण के अन्त में। पहले प्रकरण में प्रतिज्ञा के अनुसार प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन किया गया है, जब कि दूसरे प्रकरण में केवल एक निर्देश अनुयोगद्वार से १४ मार्गणाओं में जीव की विंशतिविधा सत्प्ररूपणा की गई है और शेष संख्यादि प्ररूपणाओं को न कहकर उनके जानने की सूचना कर दी गई है।

२. पृथिवी आदि षट्कायिक जीवों के भेद प्रतिपादन करने वाली गाथाएँ भी दोनों जीवसमासों में बहुत कुछ समता रखती हैं।

३. प्राकृत वृत्तिवाले जीवसमास की अनेक गाथाएँ उक्त जीवसमास में ज्यों-की-त्यों पाई जाती है।

उक्त समता के होते हुए भी पञ्चसंग्रहकार ने उक्त जीवसमास-प्रकरण की अनेक गाथाएँ जहाँ संकलित की हैं, वहाँ अनेक गाथाएँ उन पर भाष्यरूप से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रची है और अनेक गाथाओं का आगम के आधार पर स्वयं भी स्वतन्त्र रूप से निर्माण किया है। (पृ० ३७) फिर भी यह सत्य है कि दोनों जीवसमासों में कुछ गाथायें समान हैं। अनुवादिका साध्वी श्री विद्युत्प्रभाश्री जी के सहयोग से जो कुछ समान गाथाएं हमें प्राप्त हो सकी वे नीचे दी जा रही हैं—

जीवसमास- पञ्चसंग्रह : तुलनात्मक अध्ययन

(१) मार्गणा

जीवसमास—

गइ इन्दिय काए जोए वेए कसाय नाणे य।
संजम दंसण लेसा भव सम्मे सन्नि आहारे।। ६ ।।

पञ्चसंग्रह—

गइ इन्दियं च काए जोए वेए कसाय णाणे य।
संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत सण्णि आहारे ।। ५७ ।।

(२) जीव के भेद

जीवसमास—

एगिंदिया य बायरसुहुमा पज्जतया अपज्जत्ता।
बियतिय चउरिंदिय दुविह भेय पज्जत इयरे य।। २३ ।।
पंचिन्दिया असण्णी सण्णी पज्जत्तया अपज्जत्ता।
पंचिंदिएसु चोद्दस मिच्छदिट्ठि भवे सेसा ।। २४ ।।

पञ्चसंग्रह—

बायरसुहुमेगिंदिय बि-ति-चउरिंदिय असण्णी-सण्णीय।
पज्जत्तापज्जत्ता एवं चौद्दसा होंति ।। ३४ ।।

(३) गुणस्थान

जीवसमास—

मिच्छाऽऽसायण मिस्सा अविरयसम्मा य देसविरया य।
विरया पमत्त इयरे अपुव्व अणियट्टि सुहुमा य।। ८ ।।
उवसंत खीणमोहा सजोगी केवलिजिणो अजोगी य।
चौद्दस जीवसमासा कमेण एएऽणुगंतव्वा ।। ९ ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३) तेउकाय

जीवसमास—

इंगाल जाल अच्ची मुम्मुर सुद्धागणी य अगणी य।
वण्णाईहि य भेया सुहुमाणं नत्थि ते भेया।। ३२ ।।

पञ्चसंग्रह—

इंगाल जाल अच्ची मुम्मुर सुद्धागणी य अगणी य।
अण्णेवि एवमाई तेउक्काया समुद्दिट्ठा।।७९।।

(४) वायुकाय

जीवसमास—

वाउब्भामे ऊक्कलि मंडलिगुंजा महाघणतणु या।
वण्णाईहि य भेया सुहुमाण नत्थि ते भेया।। ३३ ।।

पञ्चसंग्रह—

वाउब्भामो उक्कलि मंडलि गुंजा महाघण तणू य।
एदे दु वाउकाया जीवा जिणसासणे दिट्ठा।। ८० ।।

(५) वनस्पतिकाय

जीवसमास—

मूलग्गपोरबीया कंदा तह खंधबीय बीयरूहा।
संभुच्छिमा य भणिया पत्तेय अणंतकाया या।। ३४ ।।

पञ्चसंग्रह—

मूलग्गपोरबीया कंदा तह खंध बीय बीयरूहा।
सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य.।। ८१ ।।

नरकों में लेश्या

जीवसमास—

काऊ काऊ तह काऊनील नीला य नीलकिण्हा य।
किण्हा य परमकिण्हा लेसा रयणप्पभाइणं।। ७२ ।।

पञ्चसंग्रह—

काऊ काऊ तह काउ-णील णीला य णील-किण्हा य।
किण्हा य परमकिण्हा लेसा रयणादि-पुढवीसु ।। १८५ ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चसंग्रह—

मिच्छोसासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदो पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्टि सुहमो य।। ४ ।।
उवसंत खीणमोहो सजोगिकेवली जिणो अजोगी य।
चौद्दस गुणट्ठाणाणि य कमेण सिद्धा य णायव्वा ।। ५ ।।

(४) पर्याप्ते

जीवसमास—

आहार सरीरिंदिय पज्जत्ती आणपाण भासमणे।
चत्तारि पंचछप्पिय एगिंदिय विगल सण्णीणं।। २५ ।।

पञ्चसंग्रह—

आहारसरीरिंदियपज्जत्ती आणपाणभासमणो।
चत्तारि पंच छप्पि य एइंदिय-वियल-सण्णीणं।। ४४ ।।

(१) पृथ्वीकाय

जीवसमास—

पुढवी य सक्कर वालुया य उवले सिला य लोणूसे।
अयतंब तउय सीसय रूपा सुवण्णे य वइर य।। २७ ।।

पञ्चसंग्रह—

पुढवी य सक्करा वालुया य उवले सिलाइ छत्तीसा।
पुढवीमया हु जीवा णिद्दिट्ठा जिणवरिंदेहिं ।। ७७ ।।

(२) अप्पकाय

जीवसमास—

ओसा य हिमं महिगा हरतणु सुद्धोदए घणोए य।
वण्णाईहि य भेया सुहुमाणं नत्थि ते भेया।। ३१ ।।

पञ्चसंग्रह—

ओसा य हिमिय महिया हरदणु सुद्धोदयं घणुदयं च।
एदे दु आउकाया जीवा जिणसासणे दिट्ठा।। ७८ ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवों में लेश्या

जीवसमास—

तेऊ तेऊ तह तेऊ पम्ह पम्हा य पम्हसुक्का य।
सुक्का य परमसुक्का सक्कादिविमाणवासीणं ।। ७३ ।।

पञ्चसंग्रह—

तेऊ तेऊ वह तेउ-पम्ह पम्मा य पम्म-सुक्का य।
सुक्का य परमसुक्का लेसा भवणाइदेवाणं।। १८९ ।।

भव्यत्व

जीवसमास—

मिच्छदिट्ठि अभव्वा भवसिद्धाया य सव्वठाणेसु।
सिद्धा नेव अभव्वा नवि भव्वा हुंति नायव्वा ।। ७५ ।।

पञ्चसंग्रह—

ण य जे भव्वाभव्वा मुत्तिसुहा होंति तीदसंसारा।
ते जीवा णायव्वा णो भव्वा णो अभव्वा य।। १५७ ।।

आहारक

जीवसमास—

विग्गहगइमावन्ना केवलिणो समुहया अजोगी य।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारगा जीवा ।। ८२ ।।

पञ्चसंग्रह—

विग्गहगइमावण्णा केवलिणो समुहदो अजोगी य।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारया जीवा ।। १७७ ।।

समुद्घात

जीवसमास—

वेयण कसाय मरणे वेउव्वि य तेयए य आहारे।
केवलि य समुग्घाए सत्तय मणुएसु नायव्वा।। १९२ ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चसंग्रह—

वेयण कसाय वेउव्विय मारणंतिओ समुग्घाओ।
तेजाऽऽहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं च ।। १९६ ।।

नरक में अन्तरकाल

जीवसमास—

चउवीस मुहुत्ता सत्त दिवस पक्खो य मास दुग चउरो।
छम्मासा रयणाइसु चउवीस मुहुत्त सण्णियरे ।। २५० ।।

पञ्चसंग्रह—

पणयालीस मुहूत्ता पक्खो मासो य विण्णि चउमासा।
छम्मास वरिसमेय च अंतरं होइ पुढवीणं ।। २०६ ।।

	(१) नरक	(२) नरक	(३) नरक	(४) नरक	(५) नरक	(६) नरक	(७) नरक
जीवसमास	२४ मुहूर्त	७ दिन	१ पक्ष	१ मास	२ मास	४ मास	६ मास।।२५०।।
पञ्चसंग्रह	४५ मुहूर्त	१ पक्ष	१ मास	२ मास	४ मास	६ मास	१ वर्ष।।२०६।।

सम्यक्त्वादि का विरहकाल

जीवसमास—

सम्मत्त सत्तगं खलु विरयाविरई होइ चौद्दसगं।
विरईए पनरसगं विरहिय कालो अहोरत्ता।। २६२ ।।

पञ्चसंग्रह—

सम्मत्ते सत्त दिणा विरदाविरदे य चउदसा होंति।
विरदेसु य पण्णरसं विरहियकालो य बोहव्वो ।। २०५ ।।

दोनों गाथा का अर्थ समान है। मात्र शब्दों का अन्तर है।

विषयवस्तु

जीवसमास की प्रारम्भिक गाथाओं में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इस ग्रन्थ में चार निक्षेपों, छह एवं आठ अनुयोगद्वारों और चौदह मार्गणाओं के आधार पर जीव के स्वरूप का एवं उसके आध्यात्मिक विकास की चौदह अवस्थाओं का अर्थात् चौदह गुणस्थानों का विवेचन किया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ २८७ प्राकृत गाथाओं में निबद्ध है और निम्न आठ द्वारों में विभक्त किया गया है— (१) सत्पदप्ररूपणा, (२) द्रव्य-परिमाण, (३) क्षेत्र, (४) स्पर्शणा, (५)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काल, (६) अन्तर, (७) भाव और (८) अल्पबहुत्व। इन आठ अनुयोगद्वारों को आधार बनाकर प्रत्येक द्वार में जीव के तत्सम्बन्धी पक्ष की चर्चा की गई हैं। आठ अनुयोगद्वारों के उल्लेख के पश्चात् ग्रन्थ में चौदह मार्गणास्थानों, चौदह जीवस्थानों और चौदह गुणस्थानों के नामों का निर्देश किया गया है। मार्गणा वह है जिसके माध्यम से जीव अपनी अभिव्यक्ति करता है। जीव की शारीरिक, ऐन्द्रिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों की अभिव्यक्तियों के जो मार्ग हैं वे ही मार्गणा कहे जाते हैं। मार्गणाएँ निम्न हैं— (१) गति-मार्गणा, (२) इन्द्रिय-मार्गणा, (३) काय-मार्गणा, (४) योग-मार्गणा, (५) वेद-मार्गणा, (६) कषाय-मार्गणा, (७) ज्ञान-मार्गणा, (८) संयम-मार्गणा, (९) दर्शन-मार्गणा, (१०) लेश्या-मार्गणा, (११) भव्यत्व-मार्गणा, (१२) सम्यक्त्व-मार्गणा, (१३) संज्ञी-मार्गणा और (१४) आहार-मार्गणा। इसी क्रम में आगे चौदह गुणस्थानों का जीवसमास के नाम से निर्देश किया गया हैं। वे चौदह गुणस्थान निम्न हैं—

(१) मिथ्यात्व गुणस्थान, (२) सास्वादन गुणस्थान, (३) मिश्र गुणस्थान, (४) अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान, (५) देश-विरत गुणस्थान, (६) प्रमत्तसंयत गुणस्थान, (७) अप्रमत्तसंयत गुणस्थान, (८) अपूर्वकरण गुणस्थान, (९) अनिवृत्तिबादर गुणस्थान, (१०) सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान, (११) उपशान्तमोह गुणस्थान, (१२) क्षीणमोह गुणस्थान, (१३) सयोगीकेवली गुणस्थान और (१४) अयोगीकेवली गुणस्थान।

इन प्रारम्भिक निर्देशों के पश्चात् जीवसमास के प्रथम **सत्पदप्ररूपणाद्वार** में उपर्युक्त चौदह मार्गणाओं के सन्दर्भ में उनकी भेद-प्रभेदों की चर्चा करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि किस मार्गणा के किस भेद अथवा प्रभेद में कितने गुणस्थान उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः प्रथम सत्पदप्ररूपणा द्वार चौदह मार्गणाओं और चौदह गुणस्थानों के पारस्परिक सह-सम्बन्धों को स्पष्ट करता है। हमारी जानकारी में अचेल परम्परा में षट्खण्डागम और सचेल परम्परा में जीवसमास ही वे प्रथम ग्रन्थ है जो गुणस्थानों और मार्गणाओं के सह-सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं। ज्ञातव्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थ नियमसार में जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान तीनों को स्वतन्त्र सिद्धान्तों के रूप में प्रतिस्थापित किया है। ऐसा लगता है कि आचार्य कुन्दकुन्द के समय में ये तीनों अवधारणायें न केवल विकसित हो चुकी थीं, अपितु इनके पारस्परिक सम्बन्ध भी सुस्पष्ट किये जा चुके थे। यदि हम इस सन्दर्भ में जीवसमास की स्थिति का विचार करे तो हमें स्पष्ट लगता है कि जीवसमास के रचनाकाल तक ये अवधारणाएँ अस्तित्व में तो आ चुकी थीं, किन्तु इनका नामकरण संस्कार नहीं हुआ था। जीवसमास की गाथा छह में चौदह मार्गणाओं के नामों का निर्देश है, किन्तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह निर्देश नहीं है कि इन्हें मार्गणा कहा जाता है। इसी प्रकार गाथा आठ और नौ में चौदह गुणस्थानों के नामों का निर्देश है, किन्तु वहाँ इन्हें गुणस्थान न कहकर जीवसमास कहा गया है। उसी काल के अन्य दो ग्रन्थ समवायांग और षट्खण्डागम भी गुणस्थानों के लिए गुणस्थान शब्द का प्रयोग न कर क्रमशः जीवस्थान और जीवसमास शब्द का प्रयोग करते है। आचार्य कुन्दकुन्द ही प्रथम व्यक्ति है जो इन तीनों अवधारणाओं को स्पष्टतया अलग-अलग करते है। इसी आधार पर प्रो० ढाकी आदि कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि कुन्दकुन्द का काल छठी शताब्दी के पश्चात् ही मानना होगा। जब ये तीनों अवधारणाएँ एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् स्थापित हो चुकी थीं और इनमें से प्रत्येक के एक-दूसरे से पारस्परिक सम्बन्ध को भी सुनिश्चित रूप से निर्धारित कर दिया गया था।

प्रस्तुत कृति में चौदह गुणस्थानों के नाम निर्देश के पश्चात् जीव के प्रकारों की चर्चा हुई है उसमें सर्वप्रथम यह बताया गया है कि आयोगी केवली दो प्रकार के होते हैं— सभव और अभव। अभव को ही सिद्ध कहा गया है। पुनः सांसारिक जीवों में उनके चार प्रकारों की चर्चा हुई है— (१) नारक, (२) तिर्यञ्च, (३) मनुष्य और (४) देवता।

इसके पश्चात् प्रस्तुत कृति में नारकों के सात भेदों और देवों के भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिष और वैमानिक ये चार भेद किये गये है। इसके पश्चात् इनके उपभेदों की भी चर्चा हुई है। गुणस्थान सिद्धान्त के सन्दर्भ में उपरोक्त चारों गतियों की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि देव और नारक योनियों में प्रथम चार गुणस्थान पाये जाते हैं। तिर्यञ्चगति में प्रथम पाँच गुणस्थान पाये जाते हैं, जबकि मनुष्य गति में चौदह ही गुणस्थान पाये जाते हैं। ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत प्रसंग में इनके लिए गुणस्थान शब्द का प्रयोग न करते हुए जीवस्थान शब्द का ही प्रयोग किया गया है। इसके पश्चात् पर्याप्त और अपर्याप्त की चर्चा में यह बताया गया है कि अपर्याप्त में मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है। पर्याप्त में उनकी गति के अनुसार गुणस्थान पाये जाते हैं। इसके पश्चात् इन्द्रियों की दृष्टि से चर्चा की गई है। इसमें एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों की चर्चा है। इसमें चतुरिन्द्रिय तक केवल मिथ्यात्व गुणस्थान होता है, जबकि पञ्चेन्द्रिय में चौदह गुणस्थान पाए जाते हैं।

इसके पश्चात् प्रस्तुत कृति में इन्द्रिय-मार्गणा की चर्चा करते हुए एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों के भेद-प्रभेदों की विस्तार से चर्चा की गई हैं। इसमें यह बताया गया है कि एकेन्द्रिय जीव, बादर (स्थूल) और सूक्ष्म ऐसे दो प्रकार के होते हैं। पुनः इन दोनों ही प्रकारों के पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो-दो उपभेद होते है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के भी पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो भेद होते हैं। पञ्चेन्द्रियों के पर्याप्त, अपर्याप्त तथा संज्ञी और असंज्ञी ऐसे उपभेद होते हैं। इनमें पर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय में चौदह गुणस्थान होते हैं, शेष सभी जीवों में मात्र मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है। ज्ञातव्य है कि इसी सन्दर्भ में जीवसमास में आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन— ये छः पर्याप्तियाँ बताई गयी है और यह बताया गया है कि एकेन्द्रिय जीवों में चार, विकलेन्द्रिय में पाँच और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय में छः पर्याप्तियाँ होती है।

काय-मार्गणा की चर्चा करते हुए इसमें षट्जीवनिकायों और उनके भेद-प्रभेदों की विस्तार से चर्चा की गई है। षट्जीवनिकायों के भेद-प्रभेदों की यह चर्चा मुख्यतः उत्तराध्ययनसूत्र के छत्तीसवें अध्ययन के समान ही है। यद्यपि यह चर्चा उसकी अपेक्षा संक्षिप्त हैं, क्योंकि इसमें त्रस-जीवों की चर्चा अधिक विस्तार से नहीं की गई है। इसी काय-मार्गणा की चर्चा के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने जीवों के विभिन्न कुलों (प्रजातियों) एवं योनियों (जन्म ग्रहण करने के स्थान) की भी चर्चा की गई है। योनियों की चर्चा के प्रसंग में संवृत्त, विवृत्त, संवृत्त-विवृत्त तथा सजीव, निर्जीव और सजीव-निर्जीव एवं शीत, उष्ण तथा शीतोष्ण योनियों की चर्चा है। इसी क्रम में आगे छह प्रकार के संघयण तथा छह प्रकार के संस्थानों की भी चर्चा की है। इसी क्रम में इस सबकी भी विस्तार से चर्चा की गई है कि किन-किन जीवों की कितनी कुलकोटियाँ होती हैं। वे किस प्रकार की योनि में जन्म ग्रहण करते हैं। उनका अस्थियों का ढाँचा अर्थात् संघहन किस प्रकार का होता है तथा उनकी शारीरिक संरचना कैसी होती है? इसी क्रम में आगे पाँच प्रकार के शरीरों की भी चर्चा की गई है और यह बताया गया है कि किस प्रकार के जीवों को कौन-कौन से शरीर प्राप्त होते हैं।

योग-मार्गणा के अन्तर्गत मन, वचन और काययोग की चर्चा की गई है और यह बताया गया है कि किस प्रकार के योग में कौन-सा गुणस्थान पाया जाता है।

योग-मार्गणा के पश्चात् वेद-मार्गणा की चर्चा की गई है। जैन परम्परा में वेद का तात्पर्य स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक की काम वासना से है।

वेदमार्गणा की चर्चा के पश्चात् कषाय-मार्गणा की चर्चा है। इसमें क्रोध, मान, माया और लोभ— इन चार कषायों में प्रत्येक के अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानी-प्रत्याख्यानी एवं संज्वलन ऐसे चार-चार विभाग किये गये हैं और यह बताया गया है कि किस गुणस्थान में कौन से प्रकार के कषाय पाये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाते हैं।

अग्रिम ज्ञान-मार्गणा के अन्तर्गत पाँच प्रकार के ज्ञानों की चर्चा है। इसमें मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान के भेद-प्रभेद भी बताये गये हैं तथा यह बताया गया है कि केवलज्ञान का कोई भेद नहीं होता है। आगे इसी प्रसंग में कौन से ज्ञान किस गुणस्थान में पाये जाते हैं, इसका भी संक्षिप्त विवेचन उपलब्ध होता है।

संयम-मार्गणा के अन्तर्गत पाँच प्रकार के संयमों की चर्चा की गई है और यह बताया गया है कि किस गुणस्थान में कौन-सा संयम पाया जाता है। इसी चर्चा के प्रसंग में पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ऐसे पाँच प्रकार के श्रमणों का भी उल्लेख किया गया है।

दर्शन-मार्गणा के अन्तर्गत चार प्रकार के दर्शनों का उल्लेख करते हुए यह बताया है कि किस गुणस्थान में कितने दर्शन होते हैं।

लेश्या-मार्गणा के अन्तर्गत छः लेश्याओं का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। इसी क्रम में लेश्या और गुणस्थान के सह-सम्बन्ध को भी निरूपित किया गया है। इसमें यह भी बताया गया है कि नारकीय जीवों और देवताओं में किस प्रकार लेश्या पायी जाती है, किन्तु यहाँ हमें ध्यान रखना चाहिए कि नारकीय जीवों और देवों के सम्बन्ध में जो लेश्या की कल्पना है, वह द्रव्य-लेश्या को लेकर है, उनमें भाव-लेश्या तो छहों ही सम्भव हो सकती हैं। वस्तुतः यहाँ द्रव्य-लेश्या स्वभावगत विशेषता की सूचक है।

भव्यत्व मार्गणा के अन्तर्गत भव्य और अभव्य ऐसे दो प्रकार के जीवों का निर्देश है। जैन दर्शन में भव्य से तात्पर्य उन आत्माओं से है जो मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ हैं। इसके विपरीत अभव्य जीवों में मोक्ष को प्राप्त करने की क्षमता का अभाव होता है। गुणस्थानों की अपेक्षा से अभव्य जीवों में मात्र मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है जबकि भव्य जीवों में चौदह ही गुणस्थान सम्भव हैं।

भव्यत्व-मार्गणा के पश्चात् प्रस्तुत कृति में सम्यक्त्व-मार्गणा का निर्देश किया गया है। सम्यक्त्व-मार्गणा के अन्तर्गत औपशमिक, वेदक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ऐसे चार प्रकार के सम्यक्त्व की चर्चा है। इसमें यह भी बताया गया है कि किस-किस गुणस्थान में किस प्रकार का सम्यक्त्व पाया जाता है।

संज्ञी-मार्गणा के अन्तर्गत संज्ञी और असंज्ञी— ऐसे दो प्रकार के जीवों का निर्देश किया गया है जिनमें हेय, ज्ञेय और उपादेय का विवेक करने की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामर्थ्य होती है, उसे संज्ञी कहा जाता है। गुणस्थानों की अपेक्षा से यहाँ यह बताया है कि असंज्ञी जीवों में मात्र मिथ्यात्व गुणस्थान होता है, जबकि संज्ञी जीवों में सभी गुणस्थान सम्भव होते हैं।

आहार-मार्गणा के अन्तर्गत जीवों के दो भेद किये गये हैं— (१) आहारक, (२) अनाहारक। इसमें यह भी बताया गया है कि पुनर्जन्म ग्रहण करने हेतु विग्रहगति से गमन करने वाले जीव, केवली-समुद्घात करते समय केवली तथा अयोगी केवली और सिद्ध ये अनाहारक होते हैं। शेष सभी अहारक होते हैं। इस प्रकार जीवसमास के इस प्रथम सत्पदप्ररूपणा-द्वार में चौदह मार्गणाओं का चौदह गुणस्थानों से पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट किया गया है। यद्यपि गम्भीरता से देखने पर यह लगता है कि जीवसमास उस प्रारम्भिक स्थिति का ग्रन्थ है, जब मार्गणाओं और गुणस्थानों के सह-सम्बन्ध निर्धारित किये जा रहे थे।

जीवसमास का दूसरा द्वार **परिमाणद्वार** है इस द्वार में सर्वप्रथम परिमाण के द्रव्य-परिमाण, क्षेत्र-परिमाण, काल-परिमाण और भाव-परिमाण ये चार विभाग किये गये हैं। पुनः द्रव्य-परिमाण के अन्तर्गत मान, उन्मान, अवमान, गनिम और प्रतिमान— ऐसे पाँच विभाग किये गये है जो विभिन्न प्रकार के द्रव्यों (वस्तुओं) के तौलमाप से सम्बन्धित है, क्षेत्र-परिमाण के अन्तर्गत अंगुल, वितस्ति, कुक्षी, धनुष, गाऊ, श्रेणी आदि क्षेत्र को मापने के पैमानों की चर्चा की है। इसी क्रम में अंगुल की चर्चा करते हुए उसके उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल और आत्मांगुल ऐसे तीन भेद किए हैं। पुनः इनके भी प्रत्येक के सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, धनांगुल ऐसे तीन-तीन भेद किये गये हैं। सूक्ष्म क्षेत्रमाप के अन्तर्गत परमाणु, उर्ध्वरेणू, त्रसरेणू, रथरेणू, बालाग्र, लीख, जूँ और यव की चर्चा की गई है और बताया गया है कि आठ यवों से एक अंगुल बनता है। पुनः छः अंगुल से एक पाद, दो पाद से एक वितस्ति तथा दो वितस्ति का एक हाथ होता है, ४ हाथों का एक धनुष होता है, २००० हाथ या ५०० धनुष का एक गाऊ (कोश) होता है। पुनः ४ गाऊ का एक योजन होता है।

काल-परिमाण की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि काल की सबसे सूक्ष्म इकाई समय है। असंख्य समय की एक आवलिका होती है। संख्यात आवलिका का एक श्वासोच्छ्वास अर्थात् प्राण होता है। सात प्राणों का एक स्तोक होता है। सात स्तोकों का एक लव होता है। साढ़े अड़तीस लव की एक नालिका होती है। दो नालिकाओं का एक मुहूर्त होता है। तीस मूहूर्त का एक अहोरात्र (दिवस) होता है। पन्द्रह अहोरात्र का एक पक्ष होता है। दो पक्ष का एक मास होता है। दो मास की एक ऋतु होती है। तीन ऋतुओं का एक अयन होता है। दो अयन का एक वर्ष होता है। चौरासी लाख वर्षों का एक पूर्वाङ्ग होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। चौरासी लाख वर्षों को चौरासी लाख-लाख वर्षों से गुणित करने पर एक पूर्व होता है। पूर्व के आगे नयूतांग, नयूत नलिनांग, नलिन आदि की चर्चा करते हुए अन्त में शीर्ष प्रहेलिका का उल्लेख किया गया है। इसके आगे का काल संख्या के द्वारा बताना सम्भव नहीं होने से उसे पल्योपम, सागरोपम आदि उपमानों से स्पष्ट किया गया है। जीवसमास में पल्योपम, सागरोपम के विविध प्रकारों और उनके उपमाओं के द्वारा मापने की विस्तृत चर्चा की गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन में काल के पैमानों की अतिविस्तृत और गम्भीर चर्चा उपलब्ध होती है।

द्रव्य-परिमाण नामक इस द्वार के अन्त में भाव-परिमाण की चर्चा है। इसमें संख्यात, असंख्यात और अनन्त के भेद-प्रभेदों का अत्यन्त ही सूक्ष्म विवेचन किया गया है। भाव-परिमाण की इस चर्चा के अन्त में जीवसमास में प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रमाणों की चर्चा हुई है। इसमें इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ऐसे चार प्रमाणो को दो भागों में विभक्त किया गया है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान को मतिज्ञान के अन्तर्गत तथा आगम को श्रुतज्ञान के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया है।

आगे नय प्रमाण की चर्चा करते हुए मूल ग्रन्थ में मात्र नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द ऐसे पाँच नयों का उल्लेख हुआ है।

इसी क्रम में इस द्रव्य-परिमाण-द्वार के अन्तर्गत विभिन्न गुणस्थानों में और विभिन्न मार्गणाओं में जीवों की संख्या का परिमाण बतलाया गया है। जीवसमास में प्रथम **सत्प्ररूपणाद्वार** की चर्चा लगभग ८५ गाथाओं में की गई है, वही दूसरे **द्रव्य-परिमाण-द्वार** की चर्चा भी लगभग ८२ गाथाओं में पूर्ण होती है। उसके बाद क्षेत्र-द्वार आदि शेष छ द्वारों की चर्चा अत्यन्त संक्षिप्त रूप में की गई है।

तीसरे **क्षेत्र-द्वार** में सर्वप्रथम आकाश को क्षेत्र कहा गया है और शेष जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल को-क्षेत्रीय अर्थात् उसमें रहने वाला बताया गया है। इस द्वार के अन्तर्गत सर्वप्रथम चारों गति के जीवों के देहमान की चर्चा की गई है। प्रस्तुत कृति मे देहमान की यह चर्चा पर्याप्त विस्तार के साथ उपलब्ध होती है। यह बताया गया है कि किस गुणस्थानवर्ती जीव लोक के कितने भाग में होते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव सम्पूर्ण लोक में पाये जाते है, शेष गुणस्थानवर्ती जीव लोक के असंख्यातवें भाग में होते है, यद्यपि केवली समुद्घात करते समय सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होते है। इस चर्चा के पश्चात् इसमें यह बताया गया है कि सूक्ष्म एकेन्द्रिय और अपर्याप्त बादर जीव सर्वलोक में होते हैं, शेष जीवलोक के भाग विशेष में होते हैं। यहाँ वायुकायिक जीवों को स्व-स्थान की अपेक्षा से तो लोक के भाग विशेष में ही माना गया है, किन्तु उपपात अथवा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समुद्घात की अपेक्षा से वे भी सर्वलोक में होते हैं। जीव स्वस्थान, समुद्घात तथा उपपात की अपेक्षा से जिस स्थान विशेष में रहता है, वह क्षेत्र कहलाता है, किन्तु भूतकाल में जिस क्षेत्र में वह रहा था उसे स्पर्शना कहते हैं। स्पर्शना की चर्चा अग्रिमद्वार में की गई है। क्षेत्र-द्वार के अन्त में यह बताया गया है कि आकाश को छोड़कर शेष पांचों द्रव्य लोक में होते हैं, जबकि आकाश लोक और अलोक दोनों में होता है।

चतुर्थ **स्पर्शनाद्वार** के अन्तर्गत सर्वप्रथम लोक के स्वरूप एवं आकार का विवरण दिया गया है। इसी क्रम में उर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक का विवेचन किया गया है। तिर्यक्लोक के अन्तर्गत जम्बूद्वीप और मेरुपर्वत का स्वरूप स्पष्ट किया गया है और उसके पश्चात् द्विगुण-द्विगुण विस्तार वाले लवण समुद्र, धातकीयखण्ड, कालोदधि समुद्र, पुष्करद्वीप और उसके मध्यवर्ती मानुषोत्तर पर्वत की चर्चा है। इसी चर्चा के अन्तर्गत यह भी बताया गया है कि मनुष्य मानुषोत्तर पर्वत तक ही निवास करते हैं, यद्यपि इसके आगे भी द्विगुणित-द्विगुणित विस्तार वाले असंख्य द्वीप-समुद्र हैं। सबके अन्त में स्वयम्भूरमण समुद्र है। इस द्वार के अन्त में निम्न सात समुद्घातों की चर्चा की गई है—

(१) वेदनासमुद्घात, (२) कषाय समुद्घात, (३) मारणान्तिक समुद्घात, (४) वैक्रिय समुद्घात, (५) तेजस् समुदघात, (६) आहारक समुद्घात और (७) केवली समुद्घात। समद्घात का तात्पर्य आत्म-प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर लोक में प्रसरित कर विभिन्न कर्मों की निर्जरा करना है। इसी क्रम में आगे यह बताया गया है कि किन जीवों में कितने समुद्घात सम्भव होते हैं। इसके पश्चात् इस स्पर्शन नामक द्वार में विभिन्न गुणस्थानवर्ती जीव लोक के कितने भाग की स्पर्शना करते हैं यह बताया गया है। अन्त में चारों गति के जीव लोक के कितने-कितने भाग का स्पर्श करते हैं, इसकी चर्चा की गई है।

पाँचवें **काल-द्वार** के अन्तर्गत तीन प्रकार के कालों की चर्चा की गई है— (१) भवायु काल, (२) कायस्थिति काल, (३) गुणविभाग काल और इसमें भवायु काल के अन्तर्गत चारों गतियों के जीवों की अधिकतम और न्यूनतम आयु कितनी होती है, इसकी विस्तार से चर्चा की गई है। यह चर्चा दो प्रकार से की गई है। जीव विशेष की अपेक्षा से और उन-उन गति के जीवों के सर्वजीवों की अपेक्षा से यह बताया गया है कि अपर्याप्त मनुष्यों को छोड़कर नारक, तिर्यञ्च, देवता और पर्याप्त मनुष्य सभी कालों में होते हैं। इस चर्चा के पश्चात् प्रस्तुत द्वार में कायस्थिति की चर्चा की गयी है। किसी जीव विशेष का पुनः-पुनः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरन्तर उसी काय में जन्म लेना कायस्थिति है। इस अपेक्षा से देव और नारक पुनः उसी काय में जन्म नहीं लेते है। अतः उनकी कायस्थिति एकभवपर्यन्त ही होती है। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च को छोड़कर शेष तिर्यञ्च जीवों की कायस्थिति भव की अपेक्षा से अनन्तभव और काल की अपेक्षा से अनन्तकाल तक मानी गई है। जहाँ तक मनुष्य और पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च का प्रश्न है, उनकी स्थिति सात-आठ भव तक होती है। काल की अपेक्षा से यह कायस्थिति तीन पल्योपम और नौ करोड़ पूर्व वर्ष की हो सकती है।

कायस्थिति की चर्चा के बाद काल-द्वार में गुणविभाग काल की चर्चा है। इसमें विभिन्न गुणस्थानों के जघन्य और उत्कृष्ट काल की सीमा बतायी गयी है। इसी क्रम में सम्यक्त्व, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, लेश्या एवं मति आदि पांच ज्ञानों की काल मर्यादा की चर्चा भी प्रस्तुत द्वार में मिलती है।

इसी क्रम में चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन के काल मर्यादा की चर्चा करते हुए चक्षुदर्शन का काल दो हजार सागरोपम और अचक्षुदर्शन का काल अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त ऐसा तीन प्रकार का बताया गया है। यद्यपि आगम में उसके प्रथम दो प्रकारों का ही निर्देश मिलता है। इसके पश्चात् इस द्वार में भव्यत्व-अभव्यत्व आदि की अपेक्षा से भी उत्कृष्ट काल की चर्चा हुई है। द्वार के अन्त में विभिन्न मार्गणाओं और गुणस्थानों की अपेक्षा से उत्कृष्ट-जघन्य काल की चर्चा भी विस्तारपूर्वक की गई है। अन्त में अजीव द्रव्य के काल की चर्चा करते हुए धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय को अनादि-अनन्त बताया है। काल सामान्य दृष्टि से तो अनादि-अनन्त है, किन्तु विशेष रूप से उसे भूत, वर्तमान और भविष्य— ऐसे तीन विभागों में बाँटा जाता है। पुद्गल द्रव्य में परमाणु एवं स्कन्धों का जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्ट काल असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी पर्यन्त बताया है।

छठें **अन्तरद्वार** जीव जिस गति अथवा पर्याय को छोड़कर अन्य किसी गति या पर्याय को प्राप्त हुआ हो, वह जब तक पुनः उसी गति या पर्याय को प्राप्त न कर सके, तब तक का काल अन्तरकाल कहा जाता है। प्रस्तुत द्वार के अन्तर्गत सर्वप्रथम चार गतियों के जीवों में कौन, कहाँ, किस गति में जन्म ले सकता है, इसकी चर्चा की गई। उसके पश्चात् एकेन्द्रिय, त्रसकाय एवं सिद्धों के सामान्य अपेक्षा से निरन्तर उत्पत्ति और अन्तराल के काल की चर्चा की गई है। तत्पश्चात् सिद्धोंकी निरन्तरता और अन्तराल की चर्चा करते हुए चारों गतियों, पांचों इन्द्रियों, षट् जीवनिकायों आदि की अपेक्षा से भी अन्तरकाल की चर्चा की गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सातवें **भाव-द्वार** के अन्तर्गत सर्वप्रथम औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक एवं सन्निपातिक ऐसे छः भागों की चर्चा की गई है। उसके पश्चात् आठ कर्मों की अपेक्षा से विभिन्न भावों की चर्चा की गई है। इसमें यह बताया गया है कि मोहनीय-कर्म में चार भाव होते हैं, शेष तीन घाती कर्मों में औदयिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ऐसे तीन भाव होते हैं। शेष अघाती कर्मों में मात्र औदयिक भाव होते हैं। पारिणामिक भाव तो जीव का स्वभाव है। अतः वह सभी अवस्थाओं में पाया जाता है। अजीव द्रव्यों में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल में पारिणामिक भाव है, किन्तु यहाँ पारिणामिक भाव का तात्पर्य परिणमन ही समझना चाहिए, क्योंकि भाव तो चेतनागत अवस्था है। पुद्गल में पारिणामिक और औदयिक दोनों भाव होते हैं, क्योंकि पुद्गल कर्मवर्गणा के रूप में उदय में भी आते हैं।

आठवें **अल्पबहुत्व-द्वार** में सर्वप्रथम चारों गतियों एवं सिद्धों की अपेक्षा से अल्पबहुत्व की चर्चा हुई है, उसमें बताया गया है कि सबसे अल्प मनुष्य है, मनुष्यों से असंख्यात गुणा अधिक देवता हैं, देवों से असंख्यात गुणा अधिक सिद्ध या मुक्त आत्मा है और सिद्धों से अनन्त गुणा अधिक तिर्यंच हैं। स्त्री-पुरुष के अल्पबहुत्व को बताते हुए कहा गया है कि मानव स्त्री सबसे कम है, उनकी अपेक्षा पुरुष अधिक हैं पुरुषों से अधिक नारकीय जीव हैं, उनसे असंख्यात गुणा अधिक पंचेन्द्रिय तिरियञ्चिणि हैं, उनसे असंख्यात गुणा अधिक देवियाँ हैं। इसी क्रम में आगे विभिन्न नरकों की पारस्परिक अपेक्षा से और देव गति में विभिन्न देवों की अपेक्षा से भी अल्पबहुत्व का विचार हुआ है। इसी क्रम में आगे विभिन्न कायों की अपेक्षा से अल्पबहुत्व का विचार किया गया है। अन्त में विभिन्न गुणस्थानों की अपेक्षा से भी अल्पबहुत्व का विचार किया गया है। इस प्रकार इस द्वार में विभिन्न मार्गणाओं की अपेक्षा से अल्पबहुत्व का विचार हुआ है। अन्त में अजीव द्रव्यों और उनके प्रदेशों के अल्पबहुत्व का विचार करते हुए प्रस्तुत कृति समाप्त होती है, अन्तिम दो गाथाओं में जीवसमास का आधार दृष्टिवाद को बतलाते हुए जीवसमास के अध्ययन के फल को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो इसका अध्ययन करता है उसकी मति विपुल होती है तथा वह दृष्टिवाद के वास्तविक अर्थ का ज्ञाता हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवसमास का वर्ण्य-विषय विविध आयामों वाला है। उसमें जैन, खगोल, भूगोल, सृष्टि-विज्ञान के साथ-साथ उस युग में प्रचलित विविध प्रकार के तौल-माप, जीवों की विभिन्न प्रजातियाँ आदि का विवेचन उपलब्ध होता है। गुणस्थान सिद्धान्त को आधार बनाकर आठ अनुयोगद्वारों के माध्यम से उसकी व्याख्या करने वाला श्वेताम्बर परम्परा में यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम ग्रन्थ है। इसकी प्राचीनता और महत्ता को नकारा नहीं जा सकता। इसपर सर्वप्रथम मलधार गच्छीय श्री हेमचन्द्रसूरि की वृत्ति है। यह मूलग्रन्थ सर्वप्रथम ऋषभदेव केशरीमल संस्थान, रतलाम के द्वारा ई० सन् १९२८ में प्रकाशित हुआ था। इसके भी पूर्व हेमचन्द्रसूरि की वृत्ति के साथ यह ग्रन्थ आगमोदय समिति बम्बई द्वारा ई० सन् १९२७ में मुद्रित किया गया था। जिनरत्नकोष से हमें यह भी सूचना मिलती है कि इसपर मलधारगच्छीय हेमचन्द्रसूरि की वृत्ति के अतिरिक्त शीलांकाचार्य की एक टीका भी उपलब्ध होती है, जो अभी तक अप्रकाशित है। यद्यपि इसकी प्रतियाँ बड़ौदा आदि विभिन्न ज्ञान भण्डारों में उपलब्ध होती हैं। इसी प्रकार इसकी एक अन्य टीका बृहद्वृत्ति के नाम से जानी जाती है जो मलधारगच्छीय हेमचन्द्रसूरि के शिष्य अभयदेवसूरि के द्वारा विक्रम संवत् ११६४ तदनुसार ई० सन् ११०७ में लिखी गई थी।

इस प्रकार यद्यपि मूलग्रन्थ और उसकी संस्कृत टीका उपलब्ध थी, किन्तु प्राकृत और संस्कृत से अनभिज्ञ व्यक्तियों के लिए इसके हार्द को समझ पाना कठिन था। इसका प्रथम गुजराती अनुवाद, जो मलधारगच्छीय हेमचन्द्रसूरि की टीका पर आधारित है, मुनि श्री अमितयश विजय की महाराज ने किया, जो जिनशासन आराधना ट्रस्ट, बम्बई के द्वारा ई० सन् १९८५ में प्रकाशित हुआ। फिर भी हिन्दी भाषा-भाषी जनता के लिए इस महान् ग्रन्थ का उपयोग कर पाना अनुवाद के अभाव में कठिन ही था। ई० सन् १९९५ में खरतरगच्छीय महत्तरा अध्यात्मयोगिनी पूज्याश्री विचक्षणश्री जी म०सा० की सुशिष्या एवं साध्वीवर्या मरुधरज्योति पूज्या मणिप्रभाश्री जी की नेश्रायवर्तिनी **साध्वी श्री विद्युतप्रभाश्रीजी,** पार्श्वनाथ विद्यापीठ में अपनी गुरु भगिनियों के साथ अध्ययनार्थ पधारीं, उनसे मैंने इस ग्रन्थ के अनुवाद के लिए निवेदन किया, जिसे उन्होंने न केवल स्वीकार किया अपितु कठिन परिश्रम करके अल्पावधि में ही इसका अनुवाद सम्पन्न किया। उसके सम्पादन और संशोधन में मेरी व्यवस्तता एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी कारणों से अपेक्षा से कुछ अधिक ही समय लगा, किन्तु आज यह ग्रन्थ मुद्रित होकर लोकार्पित होने जा रहा है, यह अतिप्रसन्नता और सन्तोष का विषय है। सम्पादन एवं भूमिका लेखन में हुए विलम्ब के लिए मैं साध्वीश्री जी एवं पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org